'प्रगतिशील साहित्य की वैचारिकी'

* डा0 सुभाष चन्द्र श्रीवास्तव

आधुनिक विश्व की विकासशील चिन्तनधारा को सुचिन्तित और वैज्ञानिक आधार प्रदान करने में कार्लमार्क्स, फ्रायड और डार्विन का योगदान अप्रतिम है। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के प्रतिरोध में विश्व भर में जो हलचल पिछली सदी में रेखांकित हुई उसने साहित्य को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया। भारतीय साहित्य में 'प्रगतिशील आन्दोलन' के नाम से अभिहित यह वैचारिकी 1936 में संगठनात्मक रूप से सक्रिय हुई। हिन्दी के वरेण्य उपन्यासकार–कथाकार और चिन्तक साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द ने ''भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ'' के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता की थी, तब से अन्य भारतीय भाषाओं के साथ–साथ हिन्दी में भी इस विचारधारा से अनुप्राणित साहित्य–सृजन 'केन्द्रीय महत्ता' में आ गया। समस्त विधाओं में स्तरीय लेखन ने साहित्य का परिदृश्य परिवर्तित कर दिया। किसान, मजदूर, स्त्री तथा हाशिए का समाज अपनी विशेषताओं और दुर्बलताओं के साथ यथार्थपरक छवियों में प्रतिबिम्बित होने लगा। साहित्य इनके मुक्तिकामी संघर्षो का उत्प्रेरक बना। हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं की अनेक कालजयी कृतियाँ इस आन्दोलन की गौरवमयी उपलब्धियाँ हैं, जिन्हें विश्व की किसी भी समृद्धतम भाषा की श्रेष्ठतम कृतियों के समकक्ष प्रतिस्थापित किया जा सकता है। प्रगतिशील कविता की विचारभूमि हिन्दी मार्क्सवादी दार्शनिक मान्यताओं से परिप्लावित है। यह दार्शनिक आन्दोलन अपने में क्रान्तिकारी है, जो अपने पूर्ववर्ती, समवर्ती और परवर्ती दर्शनों के विरूद्ध भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर व्यवस्थित है, वैसे ही भारत में चार्वाक दर्शन भी एक ऐसा ही दर्शन है जो अपने समय में प्रचलित आध्यात्मिक भाववादी दृष्टि के विरूद्ध वस्तुवादी जीवनदृष्टि प्रचलित करता है, पर उसका वैज्ञानिक, सामाजिक और ऐतिहासिक रूप इतना व्यापक,

* एसो0 प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दयानन्द बछरावाँ पी0जी0 कॉलेज, बछरावाँ, रायबरेली

गंभीर और आग्रहशील नहीं रहा। यही कारण है कि मार्क्सवाद का जीवन के सभी क्षेत्रों में विश्वव्यापी प्रभाव दृष्टिगत होता है। मार्क्सवादी चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा में मार्क्स एवं ऐंगिल्स के अतिरिक्त लेनिन, गोर्की, प्लेखानव, लूना, चार्स्की, कार्डवेल, जॉर्ज लुकाच, राल्फफाक्स आदि के नाम उल्लेखनीय है। कार्ल मार्क्स सिद्धान्त निर्माता थे और ऐंगिल्स उन सिद्धान्तों के सर्वाधिक विश्वस्त व्याख्याता एवं प्रचारक थे। आज के सर्जक और सर्जना, विवेचक और विवेचना– सभी मार्क्स–दर्शन से प्रभावित है। मार्क्स दर्शन (विशेष रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) पर आधारित साहित्य में प्रगतिवाद आंदोलन के आनंदवादी मूल्यों को झकझोर कर भौतिकवादी एवं उपयोगितावादी वैज्ञानिक समाजवाद की व्याख्या मार्क्स के घनिष्ठतम मित्र ऐंजिल्स ने प्रस्तुत की है – ''वैज्ञानिक समाजवाद वह समाजवाद है जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने से पहले उन तमाम वैज्ञानिक नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिनके आधार पर समाजिक परिवर्तन होते है। सामाजिक गत्यात्मकता नियम–विहीन नहीं होती। यदि हम इन नियमों को जान ले तो उसी के अनुरूप समाजवादी परिवर्तन कर सकेंगे। वैज्ञानिक समाजवाद जिस स्थान पर खड़ा है, वह स्वप्नों और भावनाओं की कोमलभूमि नही है, वरन् सत्य और परिस्थिति का कठोर धरातल है।''[1] मार्क्सवादी सृष्टि और समाज की विकासात्मक स्थित की विवेचना करने वाला दर्शन ठहरता है। यह दर्शन बड़ा विराट, व्यापक, सुसम्बद्ध एवं विस्तृत है।

''आधुनिक युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान के विकास के कारण ही सृष्टि और प्रकृति के मूल रहस्यों का उद्‌घाटन संभव हुआ है। विज्ञान की ऐसी उपलब्धियों में डार्विन का विकासवाद और आइन्सटीन का सापेक्ष सिद्धान्त अधिक उल्लेखनीय है। उन्होंने जीवन के प्रति दृष्टिकोण में आमूल–चूल परिवर्तन कर दिया है। प्राचीन काल से वर्तमान तक पौर्वात्य और पाश्चात्य दृष्टियों के अनुसार यह समस्त चराचर विश्व किसी मानवातीत अज्ञात पराभौतिक सत्ता से संचालित वस्तु–निरपेक्ष शाश्वत

तत्व के रूप में स्वीकृत रहा है। वाह्य प्रकृति, मानवजीवन, आत्मा–परमात्मा सम्बन्धी सभी तत्व अध्यात्मवादी चिन्तन के विषय रहे है, पर वैज्ञानिक विकास के साथ सृश्टि–नियमों का अनुशीलन और वाह्य प्रकृति के निरीक्षण से यह निरूपित हुआ कि जीवन–जगत के मूल में भूत तत्व का ही प्रत्यावर्तन है, न कि अभूत तत्वों का। उनके अनुसार सृष्टि अमूर्त, स्तब्ध स्थिर और शाश्वत नहीं है। सृष्टि मूर्ति, गतिमान, परिवर्तनशील, निरन्तर विकासमान एवं वस्तुगत प्रक्रिया मात्र है। विज्ञान के सभी क्षेत्रों में यह सिद्ध हुआ है कि सृष्टि के मूल में अज्ञात परमतत्व की अपेक्षा वस्तुपरक गत्यात्मक प्रवृत्तियों का अन्तर्विरोध ही विकासवादी नियम के रूप में वर्तमान है''।[2]

''सृष्टि शाश्वत् पूर्वनिर्धारित, वस्तु–निरपेक्ष आकस्मिक विधान न होकर, निरन्तर गतिमान वस्तु–सापेक्ष प्रक्रिया है, जिसमें वस्तु संयोजन द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से बनता–बिगड़ता अपने अस्तित्व को ग्रहण करता है''।[3] विकास की इसी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त अपनाया था। मार्क्स के पूर्व दर्शन के क्षेत्र में हीगल ने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को भाववादी आध्यात्मिक दृष्टि से सिद्ध किया था। फिर फायरबाख ने उसे भौतिकवादी दृष्टि प्रदान की। इन्ही मान्य आधारों पर मार्क्स ने सृष्टि के प्रति द्वन्द्वात्मक वस्तुवादी दृष्टि और मानवीय समाज के प्रति ऐतिहासिक विकासवादी धारणा का महत्व दर्शाया।

''जैविक धरातल पर डार्विन ने यह सिद्ध किया कि सृष्टि में विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है, जिसके कारण चराचर जगत निरन्तर परिवर्तित और प्रवर्द्धमान है। सृष्टि का यह विकासवादी सिद्धान्त संघर्ष एवं प्रवरण (Struggle and Selection) द्वारा संचालित है।''[4] ''डार्विन का यह विकासवाद मूलतः प्राकृतिक चयन का सिद्धान्त है। उसी प्रकार मार्क्स के पूर्व हीगल ने अपने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को प्रत्ययवादी चिन्तन का मूल स्वर घोषित किया था। हीगल के अनुसार समस्त जगत और मानवीय समाज का विकास इसी भाववादी चिन्तन–प्रक्रिया का परिणाम है।''[5] इसके विपरीत मार्क्स ने यह सिद्ध किया कि सृष्टि सम्बन्धी चिन्तन की कोई भी

विचार–प्रणाली, अपने अनुभूत सत्य के आधार पर निर्भर करती है। इन्द्रियातीत जगत सत्य इसके सिवा कुछ भी नहीं है।

मार्क्स के अनुसार–''सृष्टि का संचालन वस्तुगत है और उसका विधान द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। वस्तु स्वयं जड़ न होकर गत्यात्मक है और अपनी क्रियाशील शक्ति से ही वह अपनी स्थिति निर्धारित करती है।''[6] ''वस्तु जगत के प्रत्येक कण में ऐसी असंगतियाँ विद्यमान रहती है कि वस्तु अपनी असंगतियों का परिष्कार द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से करती है। वस्तु के मूल में परिवर्तन और विकास इन्हीं असंगतियों और अन्तर्विरोधों के पारस्परिक विस्फोट का परिणाम है। वस्तु तत्व की इस असंगति में अन्तर्विरोध परस्पर दो विरोधी प्रवृत्तियों में होता है न कि समान धर्मा वृत्तियों में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ स्वतंत्र न होकर अपनी सापेक्षता में वस्तु का संयोजन करती है। वस्तु में निहित यह परस्पर विरोधी वृत्तियाँ सकारात्मक और नकारात्मक होती है, जिनके संघर्ष से सकारात्मक वृत्ति विकास की ओर अग्रसर रहती है, और नकारात्मक वृत्ति उसके प्रगति–पथ पर अवरोध उत्पन्न कर उसकी गति को तीव्र बनाकर वस्तु के परिवर्तन और विकास का उपादेय बनती है। अन्तर्विरोध की यह प्रक्रिया ही वस्तुवादी विकास का परमरहस्य हैं।''[7] परिवर्तन और विकास की दिशाएँ भी इसी द्वन्द्वात्मक वस्तु–विधान के आधार पर निर्भर है। वस्तु की इस गतिशीलता से वस्तु के रूप में स्थिति से भिन्न एक दूसरी ही स्थिति बनती है जिसे परिवर्तन माना जाता है। इस परिवर्तन के भी दो रूप पायें जाते है– परिमाणात्मक और गुणात्मक (Quantitative and Qualitative) वस्तु में अब संघर्ष चलता है जो वस्तु पूर्वदशा में उसके वाह्य पक्ष में अन्तर और उसके आकार–प्रकार में वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। तब तक का वह परिवर्तन परिमाणात्मक माना जाता है। इस परिमाणात्मक परिवर्तन का अगला रूप जबकि उस आन्तरिक गति में भी अन्तर आ जाता है, जो विकास की दिशा निर्देश करती है, तो उसे गुणात्मक परिवर्तन माना जाता है। परिवर्तन केवल वस्तु की आकारगत या परिमाणात्मक बढ़ोत्तरी ही नहीं है अपितु उसके सबलतम पक्षों का आमूल

परिवर्तन है, जो विकास और आगे की नई सम्भावनाओं का रूप ग्रहण करता है। परिवर्तन का यह क्रम सामान्य प्रक्रिया नहीं है। इसमें वस्तु के सबल और स्वस्थ अंश वस्तुगत अशक्तता और क्षीणता को समाप्त करके उसके प्रगति–पथ को प्रशस्त बनाते है।

''वस्तुगत क्षयोन्मुखी प्रवृत्तियाँ, अन्तर्विरोधो के संघर्ष में उजड़ जाती है और स्वस्थ और सशक्त प्रवृत्तियाँ वस्तु को संक्रिया रूप से उभयन की ओर अग्रसर होने देती है।''[8] विकास की इस प्रक्रिया में विकास का स्तर भी उपरितल और उर्ध्वगामी होता है, पादविवर्ती नहीं। विकास वस्तु–क्रम की आकृति नहीं है। विकास में असंगति का निषेध और उस निषेध के उपरान्त सशक्त पक्ष का संचित क्रम निर्वाह होता है। विकास का यह त्रिस्तरीय या उभयस्तरीय रूप माना जाता है, जिसमें वस्तु अपनी पूर्व स्थिति को नकारते हुए उससे भिन्न रूप को ग्रहण करते हुए विकासमान हो जाता है।''[9] विकासवाद की यह स्थिति अपनी गति, प्रतिगति और प्रगति के रूप मे संचालित होती है। इसी क्रम को हीगल ने अपने प्रत्ययवाद के अन्तर्गत वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis) के रूप में स्वीकार किया था।

''मार्क्सवादी जीवन दर्शन ही वह जीवन है, जिसने समस्त विश्व में व्याप्त ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं, धार्मिक सस्थाओं और उनके विधि–विधान पर साग्रह आक्षेप किया। ईश्वर सम्बन्धी भावना ही नहीं, ज्ञान के जितने भी क्षेत्र प्रचलित थे, तत्सम्बन्धी चिन्तन सारणियों का प्रत्याख्यान एक द्वन्द्वात्मक विकासवादी नियमों के आधार पर स्थित सिद्ध किया जाने लगा। ईश्वरवादी जीवन–जगत को अज्ञात सत्ता से सृजित मानकर रहस्यमार्गी होकर रूढ़ कल्पना लोक में पहुँच जाते थे और इस प्रकार वे युग सत्य एवं दृश्य जगत के स्वानुभूत यथार्थ ज्ञान से वंचित रह जाते थे। जबकि मार्क्सवादी यह मानते है कि परिवर्तनशील वस्तुनिष्ठ जगत का ज्ञान परिवेश के प्रति जागरूक होकर, वौद्धिक दृष्टि से, विवेक के साथ परिशीलन करने पर ही सम्भव है। उसके लिए प्रत्येक विषय के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि, वौद्धिक चेतना

का आलोक और अपने परिप्रेक्ष्य का बोध ही जीवन विधायक तत्व है। उनके अनुसार धर्म और दर्शन किसी भी हालत में जीवन–मूल्य नही हो सकते। सत्ताधारी एवं सम्पन्न वर्ग ने इनके मायाजाल में फॅसाकर सामान्य जनता को नियतिवादी, निराशावादी, एवं पलायनवादी बना दिया है और इनकी विकासोन्मुख, गतिशील चेतना को कुंठित कर दिया है। वास्तव में यह तथाकथित सम्पन्न वर्ग द्वारा धार्मिक धरातल पर अप्रत्यक्ष रूप से किया जाने वाला शोषण है। इसी कारण मार्क्सवादी सिद्धान्तः प्राचीन जीवन–मूल्यों की शाश्वतता का विरोध करते है। अच्छाई, न्याय आदि के अर्थयुगीन परिवेश के अनुसार बदलते रहते है, उनका अर्थ समाज की स्थिति के अनुसार ही परिवर्तित होता रहता है।''[10]

डॉ0 शिवकुमार शर्मा ने प्रगतिवादियों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है– '' प्रगतिवादी साहित्यकार ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानकर जागतिक द्वन्द्व को सृष्टि के विकास का समवायीकरण स्वीकार करता है। उसे ईश्वर की सत्ता, आत्मा परलोक, भाग्यवाद, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि पर विश्वास नहीं है। उसकी दृष्टि में मानव की महत्ता सर्वोपरि है। उसके लिए धर्म एक अफीम का नशा है, और प्रारब्ध एक सुन्दर प्रवंचना। प्रगतिवादी कवि धर्म, समाज तथा उस तथाकथित ईश्वर द्वारा निर्मित नियमों और उपनियमों को छिन्न–भिन्न कर देना चाहता है। उसके लिए मन्दिर, मस्जिद, गीता और कुरान आज महत्व नहीं रखते। उसे अन्धविश्वासों मिथ्या परम्पराओं और रूढ़ियों पर प्रखर प्रहार करके मानव को मानव रूप में देखना अभीष्ट है।[11]

विश्वजनीन धर्म, दर्शन, नियति आदि प्रत्ययवादी आदर्श मानव से निर्देशित है और मानवीय जगत के कुछ ऐसे व्यवहारिक तथ्य है, जो जनता को अपने जीवन–विधान से आलोकित कर सके है। पर जब यह मानव निर्णीत तथ्य ही मानव को अपने सहज जीवन से गुमराह कर दे, तो ऐसे धर्म, दर्शन का जीवन–मूल्यों से क्या सम्बन्ध होगा। मार्क्सवादी दर्शन मनुष्य सापेक्षिक है, उसका धर्म भी मानव केन्द्रित है। नियतिवाद, भाग्यवाद या

निराशावाद की उपासना उसे ग्राह्य नहीं है। मार्क्सवाद समष्टिवादी और सामूहिक चेतना में विश्वास रखने वाला है। उसका धर्म, दर्शन और संस्कृति भी इस समष्टिमूलक जीवन से सम्बद्ध है, न कि किसी विशिष्ट व्यक्ति से। वस्तु जगत की यथार्थता का बोध और समष्टि–मंगल की कामना इनका लक्ष्य है।

''ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ही सामाजिक रूप है, जो मानवीय जीवन और समाज–संगठन के ऐतिहासिक विकास की व्याख्या प्रस्तुत करता है। मानव–जीवन किसी भी हालत में एकांतिक नहीं है। आदिमानव से लेकर वह वर्तमान सामाजिक प्राणी तक रहा है और मानवीय व्यापार और उसके जितने भी क्षेत्र है, सभी उसके समष्टि मूलक जीवन का ही प्रमाण है। इसी मानवीय जीवन के व्यावहारिक पक्ष का विश्लेषण मार्क्स ने अपने सामाजिक सिद्धान्तों पर निरूपित किया है।[12] मार्क्स ने माना है कि मानवीय बौद्धिक विकास और चिन्तन, उसके विचार और उद्‌देश्य सब उसके वाह्य परिवेश के आधार पर ही प्रतिबद्ध होकर विकसित होते है, उसी प्रकार मानवीय जीवन और उसके व्यवहारिक धरातल भी उसके वाह्य परिवेश जो आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना से सम्बद्ध है, से संचालित है। प्राकृतिक परिवेश और मानवीय जीवन के परिवेश में अन्तर इतना है कि मानवीय जीवन चेतन प्राणियों के संसर्ग से विकसित है, इसलिए उनके परिवेशगत नियमों में निश्चित उद्‌देश्य और आशय अवश्य ही सक्रिय रहते है। मानवीय जीवन में उसकी वैयक्तिक चेतना से भी अधिक उसकी समष्टिगत, सामूहिक चेतना को अधिक महत्व मिला है। सामाजिक चेतना ही मानवीय चेतना का निर्धारक तत्व होता है। मार्क्स के अनुसार मानवीय जीवन अर्थाधारित, सामाजिक नियमों से बद्ध होकर ही जीवन के अन्य धरातलों का सृजन करता है।

''श्रम और उत्पादन आर्थिक जीवन का विधायक तत्व है जबकि मानव अपने जीवन–यापन के सन्दर्भ में परिश्रम और उत्पादन को ही जीवन का व्यवसाय सिद्ध करता है। उत्पादन प्रणाली के अर्न्तगत परिश्रम उत्पादन

सम्बन्धी साधन का भोग जीवन के मानदण्डों को स्थापित करते है। इसलिए जीवन के भौतिक मूल्यों का निर्धारक तत्व अन्य वाह्य परिवेश से भी अधिक उसके आर्थिक आयामों पर ही निर्भर करता है। उत्पादन का क्षेत्र पूजीपतियों और श्रमिक वर्ग के बल पर जब अपना कार्य निर्वाह करता है, तब उत्पादन प्रणाली के अनुरूप ही उनके आशय और आवश्यकताएँ निहित रहते है। उत्पादन की इस प्रक्रिया में उपलब्ध सम्पत्ति का विनिमय–वितरण इसी अनुपात में वांछित है जिस हद से उनका नाता स्थापित हुआ है। पर वास्तव में उत्पादन प्रणाली को ऐसी असंगति होती है कि उत्पादन के कार्य निर्वाह में आर्थिक असमानता वर्गगत असंगतियों और अन्तर्विरोधों के कारण ही वर्ग–संघर्ष सदा चलता रहता है। यह वर्ग–संघर्ष प्रत्येक सामाजिक विकास का अनिवार्य नियम ही बना है।''[13] ¨जीवन का आर्थिक आधार ही समाज संगठन में वर्गगत भावना, वर्ग स्थिति, और वर्ग–संघर्ष का मूल कारण बन जाता है। समाज का अपना जीवन है, अपना इतिहास है, अपना दर्शन है। समाज मानवीय जन समूह का संगठित रूप है, जो अपने विधान में कहे आयामों का नियोजन करता है। सामाजिक जीवन का मूल इस जब उत्पादन और विनिमय के व्यवहार पर निर्भर है, तो उसमें उत्पादन प्रणाली के आधार स्तम्भ पूजी पति और श्रमजीवियों का, दो वर्ग अवश्य ही स्थापित हो जाते है। यह वर्ग स्थिति आधुनिक युग की आकस्मिक स्थिति नहीं हैं, बल्कि आदिम समाज से चला आता हुआ मानव–जीवन का इतिहास है। यह वर्ग स्थिति जीवन विधान की प्रक्रिया मात्र है, जो परस्पर विरोधी है और सामाजिक जीवन की अनिवार्य स्वीकृति है, जैसे द्वन्द्वात्मक नियम वस्तु की अनिवार्यता माना जाता है।''[14]

वर्ग स्थिति का अपना इतिहास है, जो दास–प्रथा से लेकर वर्तमान युगीन श्रमिक तक व्याप्त है। सामाजिक जीवन के मूल में निरन्तर रूप से इन वर्ग स्थितियों का प्रत्यावर्तन ही सामाजिक क्रान्ति और वर्ग–संघर्ष का रूप ग्रहण करता है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के मूल में उसकी पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था का ह्रास और नई सामाजिक व्यवस्था की सम्भावना

अन्तर्निहित है। ''जिस अर्थ में वर्ग–स्थिति सामाजिक संगठन और विकास का नियम है, उसी हद तक वर्ग–संघर्ष भी उसका आवश्यक तत्व है। उत्पादन प्रणाली के आधार पर पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग अपनी सीमा में परस्पर सम्बद्ध भी और विरोधी भी है। एक वर्ग को आधार बनाकर दूसरा वर्ग जब अपना अधिकार जमा लेता है, तो उनमें द्वन्द्व का विधान भी अविच्छिन्न रूप से संलग्न रहता है। इसलिए यह निश्चित है कि वर्ग परस्पर विरोधी हैं, यह विरोध ही उनमें संघर्ष का उपक्रम करता है।''[15]

''मानवीय जीवन का सामाजिक इतिहास यह प्रमाणित करता है कि सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास के मूल में वर्गवादी चेतना से उत्पन्न क्रान्ति और वर्ग संघर्श ही मार्क्सवादियों का अन्तिम सत्य है।''[16] शोषण और शोषितों का इतिहास सामाजिक विकास में निरन्तर रूप से चलता रहा है।

''मार्क्स के अनुसार क्रान्ति ही जीवन का विधायक तत्व है। क्रान्ति का रूप और लक्षण चाहे नारेबाजी या विघटनकारी और ध्वंसात्मक लगे, पर उसका परिणाम जड़ और स्थिरतावादी निष्क्रिय रूढ़िवादी तत्वों का समाहार और गत्यात्मक विकासवादी तत्वों का पुनरूद्घाटन मात्र है। किसी भी विषय में विरोधी वृत्तियों के संघर्ष का अन्तिम परिणाम उसके स्वस्थ विकास का सूचक है। मार्क्स ने अपने विचारों का समग्र विवेचन इसी दृष्टि से किया है।''[17] ''ऐतिहासिक विकासवाद मार्क्स की दृष्टि में मानव सभ्यता के विकास की व्यवस्था है। मार्क्स जिस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली को सृष्टि का मूल रहस्य मानते है, उसी प्रकार इतिहास को भी मानवीय समाज की विकासोन्मुख गतिविधि पर आधारित मानते है। इतिहास को राजा–महराजाओं की कथात्मक घटना मात्र मानना उनकी दृष्टि में अनुचित है। वे इतिहास के द्वारा द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर मानवीय समुदाय के पुरोगामी जीवन को आँकना चाहते है। इेतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार इतिहास की एम मूलभूत एकता है, और इस मूलभूत एकता का यह कारण है कि समूचा इतिहास निश्चित नियमों से परिचालित है। ये नियम

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सामाजिक संस्करण है।''[18] इतिहास की वस्तुवादी विकास वादी परिकल्पना का विश्लेषण, इतिहास की उसी मूलभूत एकता से आपेक्षित है।

मानवीय सभ्यता का आदिम रूप जनवादी भावना से संघटित समूह मात्र रहा था। धीर–धीरे जब मानव की भौगोलिक परिस्थितियों में अन्तर होने लगा, और उसकी प्रबुद्ध चेतना मे भी परिवर्तन होने लगा, तो मानव अपनी निश्चित सामाजिक– व्यवस्था में सम्पन्न होता गया। '' मानवीय इतिहास इन्ही सामाजिक आर्थिक रचनाओं के परिवर्तन और विकास की कहानी है। अब तक का मानव–समाज ऐसी चार निश्चित समाज–व्यवस्थाओं में से गुजरा है। 1. आदिम सामूहिक या साम्यवादी 2. दास 3. सामन्ती और 4. पूँजीवादी और अब वह पाँचवी सामाजिक व्यवस्था सम्यवादी व्यवस्था में प्रवेश कर रहा है, जिसके प्राथमिक सोपान को समाजवादी समाज–रचना कहते है।''[19]

यह विश्व सभ्यता के विकास की नई व्याख्या है। मार्क्स के पूर्व उपलब्ध इतिहास में विभिन्न देशों एवं जातियों के विकास का इतिहास लिखने वाले लेखकों ने प्रायः मानव जाति को राष्ट्र वर्ग या जाति के आधार पर वर्गीकृत किया है। किन्तु मार्क्स दुनियाँ के सब मनुष्यों की चाहे वे किसी भी देश या जाति से सम्बन्धित रहे हों, उन्हें दो जातियों या दो वर्ग मानते है – शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। मानव–सभ्यता का समस्त इतिहास इन दो वर्गो के संघर्ष की ही कहानी है। ''इस कहानी को भी चार युगों में बाँटा गया है– पहला युग, दास प्रथा का युग था जबकि श्रमिक के व्यक्तित्व, उसके श्रम, उत्पत्ति के साधनों एवं उत्पादन– इन चारो पर मालिक (शोषक) का अधिकार था। दूसरा, सामन्ती प्रथा जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व को तो स्वतंत्रता मिल गई, किन्तु शेष तीनों बातो पर सामन्त (शोषक) का ही अधिकार रहा। तीसरा युग, पूँजीवादी व्यवस्था का आया जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व एवं उसके श्रम पर मजदूर का अधिकार हो गया, किन्तु शेष दो पर पूँजीपति का ही अधिकार रहा। चौथी व्यवस्था, मार्क्स के अनुसार साम्यवादी

व्यवस्था को स्थापित करना था, जिसमें मजदूरों को प्रतिनिधि सरकार द्वारा उत्पादन के समस्त साधनों पर नियन्त्रण हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप फल मिले। इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त वह हिसांत्मक क्रान्ति का भी समर्थन करता है।''[20] सामाजिक जीवन में प्रगतिवादी चेतना का विकास और समष्टि मंगल की कामना ही मार्क्सवाद का परम लक्ष्य है। जीवन में समता, स्वातंत्र की भावना या मुक्तिकामी चेतना का विकास और सामूहिक जीवन की सुखशान्ति के लिए संघर्षरत होने की क्रान्तिकारी चेतना का समग्र रूप उनकी सामाजिक यथार्थवादी भावना में परिलक्षित है।

सामाजिक यर्थाथवाद आदर्शवादी मानववाद का विरोधी है। आदर्शवाद के विरूद्ध यथार्थ भावभूमि का समर्थन उनका लक्ष्य है। आदर्शवादी पलायनवादी है, जीवन की समस्याओं से भागने वाले, संघर्षो से विमुख होते है। इसलिए उनकी यथार्थवादी दृष्टि जीवन के प्रति एक सचेत संघर्षमय क्रान्ति में विश्वास है। साहित्य में भी मार्क्सवादी इस समाजवादी यथार्थवाद को साहित्य और जीवन के समाधान रूप में स्वीकार करते है उनके यर्थाथवादी मूल्य सतत गतिशीलता को ही सत्य मानते है। उनके कलावादी चिन्तन भी जीवन के प्रति प्रगतिशीलता में आस्थावान है। ''समाजवादी जीवन–दृष्टि समष्टि और सामूहिक जीवन को महत्वपूर्ण मानती है। इसलिए उनके यथार्थवादी विचार तत्व भी सामूहिक जीवन से सम्बद्ध है। व्यक्ति और समष्टि का संघर्ष मात्र है। इसलिए सामाजिक यथार्थ भी समूहगत होता है। समाज में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक समता की सम्भावना तभी होगी जबकि मनुष्य संगठित जीवन से सम्बद्ध है। इसलिए साहित्य में भी यथार्थवादी दृष्टि इस वर्गवादी भावना के रूप में विकसित होने लगी। जो कलाकार श्रमिक वर्ग का पक्षधर नही हो सकता, पक्षधर होने में अपने को पक्षपाती मान लेता है, वह किसी वर्ग के प्रति न्याय नहीं कर सकता।''[21] सामाजिक जीवन का भौतिक आधार, उसका अर्थाधारित वैषम्य, वर्गगत क्रान्ति और विकासमान जीवन की निरन्तरता का रूप प्रतिष्ठित करने का श्रेय मार्क्स को है।

मार्क्स का यह विश्वास है कि मानवीय जीवन इस संसार में ही अपने जीवन की दीर्घकालीन यात्रा का आदि और अन्त देखता है। उनका आग्रह है कि विकासमान जीवन के इस प्रगतिपथ में क्रियाशील, बौद्धिक चेतना से सम्पन्न होकर निरन्तर गति से जीवन समृद्ध रहे। जीवन की निरन्तर गत्यात्मकता को वह अपना साध्य और सिद्धि मानता है, शाश्वतता को अपने इस लक्ष्य में अवरोध। मार्क्स के वैचारिक क्षेत्र के जितने भी नियम हे, सब उनके दर्शन सम्बद्ध सिद्धान्त ही है। प्राणिमात्र सब सहजीवी है, अपने दैनिक जीवन के सुख–दुखों में समभागी है, यही उनका आदर्श है और यही उनका जीवन दर्शन है।

प्रगतिशील साहित्य का मूल स्वर सामाजिक जीवन का भावबोध है। उसमें लोक जीवन और उसकी समष्टिगत चेतना की संवेदना युगदृष्टि और समसामयिक ऐतिहासिकता के अनुकूल मुखरित हुई है। व्यक्ति सापेक्ष नहीं। व्यक्ति और समष्टि का आग्रह प्रगतिवादी जीवन–दर्शन के प्रमुख तत्व है, जिनकी सशक्त रूप में अभिव्यक्ति प्रगतिवादी काव्य में हुई है।

मार्क्सवादी कला–चिन्तन और सौन्दर्य–बोध भी विकासवादी स्वस्थ जीवन–दर्शन से, उसके व्यावहारिक संदर्भो के अनुकूल परिनिष्ठित है। साहित्य में सामाजिक जीवन की भावना का स्थान तो चिरंतन है, पर मार्क्सवाद के पूर्व सामाजिक स्वरूप साहित्य में भी उसके अन्य पक्ष, संस्कृति और अध्यात्म जीवन के प्रभाव–स्पर्श से आदर्शवादी होकर रहा। साहित्य में जनवादी भावना का समर्थन अपनी समग्रता और सामाजिक परिवेश के समस्त सन्दर्भों के साथ उभारने में मार्क्सवादी कलाचिन्तन का श्रेय मानना चाहिए। मार्क्सवादी साहित्यिक मान्यताओं में सामाजिक यथार्थ और सामूहिक भाव का समावेश उसके विचार सम्बन्धी पैनी दृष्टि का परिचायक है। जिस प्रकार साहित्य में मानवीय जीवन की सार्वभौमिक और सार्वकालिक मान्यताएँ आदर्श रूप में जीवन–मूल्यों का सृजन करती चली आ रही है, उसी प्रकार मार्क्स के साहित्यिक सिद्धान्त जो समाजवादी यथार्थवाद और सामूहिक भाव से अभिहित है, अपनी दलगत नीति न होकर

चिरतंन मानव का क्रमागत विकास सम्बन्धी जागरूक बौद्धिक चेतना के आयाम प्रस्तुत करने का संदेश देता है। इसलिए इतना कहना यहाँ उचित होगा कि साहित्य और कला, मार्क्स की दार्शनिक दृष्टि के अनुसार ही विकासवादी और भौतिक परिप्रेक्ष्य की सापेक्षिता में परिप्लावित है।

सन्दर्भ –

1. हिन्दी–साहित्यकोष भाग – 1 पृष्ठ 644
2. स्पेंसर्स मैन इन दि मार्डन वर्ल्ड, पृष्ठ 37
3. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका पृष्ठ 356–357
4. कार्ल मार्क्स एण्ड एफ0 एंजिलस, सिलेक्टिड वर्क्स–खण्ड 2, पृष्ठ 121
5. दि आर्ट एण्ड सोशल लाइफ – जी0वी0 प्लेरवानोव, पृष्ठ 23
6. एफ0 एंजिल्स, एंटी घ्रूइंग, पृष्ठ 86
7. एम0 कोर्नफोर्थ, डायलेक्टिकल मैटीरियलिज्म पृष्ठ 105
8. एम0 कोर्नफोर्थ, डायलेक्टिकल मैरीरियलिज्म, पृष्ठ 8
9. फंडामेंटल्स ऑफ मार्क्सिज्म एण्ड लेनिनिज्म, आ0ए0 स्काट एम0 जेम्स पृष्ठ 103
10. हार्वड फास्ट, लिट्रेचर एण्ड रियलिटी, पृष्ठ 91
11. हिन्दी साहित्य, युग और प्रवृत्तियाँ पृष्ठ 506
12. फण्डामेन्टल आफ मार्कसिज्म एण्ड लेनिनिज्म, आ0ए0 स्काट जेम्स पृष्ठ 103
13. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका खण्ड 5 पृष्ठ 874
14. एनसाइक्लोपीडिया खण्ड 14 पृष्ठ 989
15. एम0 कोर्न फोर्थ ब्रिटानिका, हिस्टोरिकल मैटीरियलिज्म पृष्ठ 66
16. कार्ल मार्क्स कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो पृष्ठ 13
17. लेनिन, मार्क्स एण्ड एंजिल्स मार्कसिज्म पृष्ठ 28
18. हिन्दी साहित्य कोश– ऐतिहासिक भौतिकवाद पृष्ठ 197
19. हिन्दी की प्रगतिशील कविता –डॉ0 रणजीत पृष्ठ 43

20. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त पृष्ठ 741–42
21. ए0वेटर्स – डायलेक्टिकल मटीरियालिज्म पृष्ठ 268।